

स्वाहिशें

उदयन वाजपेयी

अपने सारे पुराने साहित्य को देख-समझकर अपने चित्त व काल की एक तस्वीर बनाने और उस तस्वीर में आधुनिक विश्व और उसकी वृत्तियों को उपयुक्त स्थान देने का काम हम कर नहीं पा रहे।

(धर्मपाल, भारतीय मानस चित्त और काल)

1.

कुछ बरस बीत गये जब धर्मपाल जी ने भोपाल में एक व्याख्यान दिया था। आपमें से जिन्होंने उन्हें बोलते सुना होगा, उन्होंने महसूस किया होगा कि उनका बोलना बेहद खुला हुआ करता था। वे बहुत सोचकर सोचते हुए बोलते थे। मानो वे आपको संसार को एक अलग से देखने का न्यौता दे रहे हों। वे पूरे आत्मविश्वास से बोले कि भारत के कुछ जिलों से सरकार को सिरे से हट जाना चाहिए। प्रयोग के तौर पर कुछ जिलों से शासकीय व्यवस्थाओं और तन्त्र को पूरी तरह हट जाना चाहिए। उनके यह बोलते ही वहाँ अजीब-सी उद्धिग्नता फैल गयी। वैकल्पिक व्यवस्थाओं का विचार बहुत हुआ करता है। लेकिन उसमें नयी शासन व्यवस्थाओं की चर्चा हुआ करती है पर धर्मपाल जी तो कुछ अलग ही कह रहे थे। पूरी गम्भीरता से कह रहे थे। वे दोबारा वही कर रहे थे, 'कहीं और नहीं तो आपके मध्यप्रदेश के कुछ जिलों से शासकीय तन्त्र को हटा लेना चाहिए।' उनका आशय यह था कि न सिर्फ वहाँ से शासकीय अधिकारी, कर्मचारी आदि हटा लिये जायें, पर जो भी राजस्व एकत्र करने आदि की व्यवस्थायें हैं, उन्हें भी सीधे-सीधे साधारण लोगों को सौंप दिया जाये। वे सोचते थे कि ऐसा करने पर शुरू में उन जिलों के समाजों को व्यवस्थित होने में कुछ दिक्कतें पेश आयेंगी पर धीरे-धीरे ये साधारण लोग अपने समुदायों, गाँवों आदि की सभी व्यवस्थाएँ खुद करना शुरू कर देंगे। और ये व्यवस्थाएँ, वे सोचते थे, आज की व्यवस्थायें से बेहतर ही होंगी और उनमें पारम्परिक भारतीय सामाजिक व्यवस्थाओं की झलक तो होगी ही साथ ही उनमें यहाँ के लिए उपयुक्त नयी व्यवस्थाओं की सम्भावना भी दिखायी दे सकती है। उनका यह

प्रस्ताव कुछ-कुछ अटपटा-सा लग सकता है, मुझे यह लिखते समय लग भी रहा है, पर ध्यान से देखने पर इसमें भारत के साधारण लोगों के सांगठनिक सामर्थ्य पर उनका असीम विश्वास नज़र आता है। शायद वे सोचते थे कि स्वयं को छोटी-छोटी इकाईयों में व्यवस्थित करने का भारतीय समाज का पारम्परिक विवेक अब भी किसी हद तक हमारे भीतर बचा हुआ है और उचित अवसर मिलने पर वह दोबारा अपने को प्रकट कर सकता है। मुझे याद है कि जब कुछ श्रोताओं ने यह प्रश्न किया कि क्या ऐसा करने से अराजकता नहीं फैल जायेगी, वे हल्का-सा मुस्कराकर बोले थे, 'कुछ देर के लिए ऐसा हो सकता है पर जल्दी ही कोई व्यवस्था उसमें से निकलकर आ जायेगी। वह जैसी भी होगी, आज से बेहतर होगी।' मैं हमारे देश के ही नहीं, दुनिया के ऐसे किसी विचारक को नहीं जानता जिसमें साधारण लोगों के विवेक और स्मृति पर इतना गहरा विश्वास हो।

2.

अपने निबन्ध 'भारतीय व्यवस्था' में वे लिखते हैं :

यह भी है कि 1947 से 49 तक भारतीय संविधान के बनने के समय अंग्रेजों के हाथों तैयार की गयी भारतीय राजसत्ता के संस्थागत ढाँचें में अंग्रेजीकृत या पश्चिमीकृत भारतीय शक्ति और निर्णय के स्थान पर काबिज़ हो गया इसलिए पुराने भारतीय विधानों की ओर लौटना कहीं अधिक कठिन था। जब पारम्परिक भारतीय संवेदना को स्थानीयता की प्राथमिकता स्थापित करना कठिन जान पड़ा तो वह जातियों पर ज़ोर देने की ओर मुड़ गयी। यह तथ्य ठीक से समझा नहीं गया कि स्थानीयता (या आंचलिकता) और जातियाँ एक-दूसरे की पूरक हैं और बिना एक दूसरे की उपस्थिति के क्रियाशील नहीं हो सकतीं। इससे भी आगे यह बात भी अच्छी तरह पहचानी नहीं गयी कि स्थानीयताओं की प्राथमिकता ही उन्हें आपस में सम्बद्ध कर व्यापक भारतीय व्यवस्था और इस तरह भारतीय सभ्यता की रचना किया करती थी।

(धर्मपाल, कलेक्टेड राईटिंग्स, भाग पाँच, पृष्ठ 138)

न अंग्रेजी शासन और न स्वतन्त्र भारत के अधिकांश अध्येताओं ने जातियों और अंचलों के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों को वैसे रेखांकित करने की चेष्टा की जैसा कि धर्मपाल जी

ने किया। यह रेखांकन महत्व का है। अंचल को निरपेक्ष मान कर जातियों पर विचार करना समझ की खोट है। हम सभी इसी खोट के शिकार होते रहते हैं क्योंकि तमाम जातियाँ अपने विशिष्ट अंचलों में ही विशिष्ट अर्थ ग्रहण करती रही हैं। और ये अर्थ कमोबेश उनके आपसी सम्बन्ध से उपजते रहे हैं। अपने इसी निबन्ध में धर्मपाल जी ने यह दिखाया है कि कैसे संविधान निर्माताओं ने स्थानीयता को स्वतन्त्रता—प्राप्त भारत की व्यवस्था की इकाई बनाने से गुरेज़ किया और इसकी जगह 'स्थानीयता—निरपेक्ष' व्यक्ति को इसकी इकाई बनाया। इसका परिणाम यह निकला कि स्थान या अंचलों से विलगित जातियाँ हमारी राजनीति के केन्द्र में आ गयीं और इनका मनचाहा उपयोग हमारे विभिन्न राजनैतिक दल करने में जुट गये। धर्मपाल जी जानते थे कि हमारे पास जातियों के अन्तर्सम्बन्ध का कोई व्यापक अध्ययन नहीं है' विशेषकर अंचलों और उनमें रहती विभिन्न जातियों के अन्तर्सम्बन्धों के अध्ययन तो सिर से ही नदारद हैं। लगभग डेढ़—सौ बरस पहले सन् 1872 के एम.ए. शेरिंग ने बनारस और उसके आस—पास के अंचलों में जातियों का एक विशद अध्ययन किया था पर उसमें उनके गहरे पूर्वग्रह काम कर रहे थे। वे लगातार जातियों की व्यवहारिकता को वर्णों के सैद्धान्तिक ढाँचों में डालकर इन दो स्तरों को एक मानने की कोशिश करते हैं। पर तब भी उन्होंने जातियों का स्थूल ही सही, वर्णन अवश्य किया है। उसके बाद शायद वैसा कोई अध्ययन हमारे पास नहीं है। जातियों पर सैद्धान्तिक लेखन बहुत होगा पर उनकी क्रियाशीलता का विशुद्ध वर्णन करने की आवश्यकता आज भी बनी हुई है। इसीलिए हम जातियों के अन्तर्सम्बन्धों पर केवल अनुमान से अपनी राय बनाते हैं और इसी आधार पर राजनीति करने और व्यवस्था बनाने की कोशिश करते हैं। अपने अन्तिम दिनों में धर्मपाल जी की गहरी आकाँक्षा थी कि देश के विभिन्न अंचलों में विभिन्न जातियों के अन्तर्सम्बन्धों पर गहरायी से काम हो, उसके लिए तमाम अंचलों के कुछ अध्येता मिलें और इस पर कुछ प्रामाणिक शोध करें (कुँवर सुरेश सिंह सम्पादित 'पीपुल ऑफ इण्डिया' के खण्ड इसमें मददगार हो सकती हैं पर यहाँ जोर जातियों की लिस्टिंग आदि पर न होकर उनके अन्तर्सम्बन्धों पर हो, विभिन्न अंचलों में सामाजिक, आर्थिक, अध्यात्मिक और आनुष्ठानिक शक्ति के संचरण में उनकी स्थिति पर हो और साथ ही इसमें 'जाति—पुराणों' जैसे जाति—विषयक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का अध्ययन भी शामिल हो क्योंकि ये ग्रन्थ विभिन्न अंचलों में रहती लगभग हर जाति की आत्मछवि को स्पष्ट करने में भी मददगार साबित हो सकते हैं। अपनी इन्हीं आत्म—छवियों के इंगित पर विभिन्न जातियाँ विभिन्न

दिशाओं में क्रियाशील रही हो सकती हैं)

धर्मपाल जी का सोचना था कि किसी भी सभ्यता की जैसी भी विश्वदृष्टि या विश्वदृष्टियाँ होती हैं, वहाँ उसी के अनुरूप उद्योग—धन्धे और व्यवसाय हुआ करते हैं। दूसरे शब्दों में किसी भी सभ्यता के कैसे भी व्यवसाय अपने भीतर उस सभ्यता की विश्वदृष्टि या विश्वदृष्टियों की छवियों का न सिर्फ वहन करते हैं, उसी में बेहतर भागीदारी करने वे स्वयं को परिष्कृत करते चलते हैं। इसलिए साम्यतिक विश्वदृष्टि को भूलकर वहाँ के उद्योग—धन्धों और व्यवसायों के अध्ययन का कोई विशेष महत्व नहीं रह जाता। अगर इस ढंग से भारत में जातियों के अन्तर्सम्बन्धों को पहचानने की कोशिश होती है, हम शायद उससे बिल्कुल अलग निष्कर्षों पर पहुँचे जिनपर हमारी अधिकतर आधुनिक मनीषा पहुँची है। उसके बाद उन्हें स्वीकारना या नकारना, उनमें मौजूद खोटों को दूर करना या उन्हें पूरी तरह छोड़ देना, यह सब अधिक आत्मविश्वास से किया जा सकेगा। हम अपने अनुमानों के घटाटोप से बाहर निकलकर जातियों और अंचलों की स्पष्ट समझ के उजास में आ सकेंगे। फिर हम उनके विषय में क्या करते हैं या क्या नहीं करते, अधिक प्रामाणिक हो सकेगा। इतना ज़रूर है कि इन अन्तर्सम्बन्धों पर विचार करते समय हमें यह याद रखना होगा कि जैसे सामी धार्मिक परम्पराओं और उनसे अनुप्रमाणित आधुनिक विचारधाराओं में युटोपिया की परिकल्पना का उद्देश्य मानव समाज को समय के थपेड़ों से बाहर निकलकर एक तरह के शाश्वत स्थायित्व को हासिल करना रहा है जो हमेशा ही भविष्य में सम्भावना की तरह बना रहता है, उसी तरह हमारे देश के विभिन्न अंचलों में जातियों की व्यवस्था भी समाज को समय के थपेड़ों से बाहर लाकर किसी तरह का स्थायित्व स्थापित करने की आकाँक्षा से उत्प्रेरित थी। अगर वह हमें मुफ़ीद नहीं जान पड़ती, उसे हटा देना होगा लेकिन यह केवल तब हो सकता है जब हमारे पास उसकी प्रामाणिक तस्वीर मौजूद हो।

3.

आत्म और अनात्म, पृथ्वी और आकाश, पिण्ड और ब्रह्माण्ड, जीवन और मृत्यु, प्रकृति और ईश्वर को देखने, अनुभव करने और व्यवहार में लाने की अलग—अलग दृष्टियाँ अलग—अलग सभ्यताओं में विद्यमान रही हैं। एक तरह से विभिन्न सभ्यताओं ने अस्तित्व को विभिन्न रूपों में सिरजा है। इन अन्यान्य विश्वदृष्टियों के अपनी तरह के सुफल और कुफल हुए हैं। यह शायद

मनुष्य होने की विडम्बना हो कि इसकी कोई भी विश्वदृष्टि निर्दोष नहीं हो पाती, हरेक में किसी न किसी 'खराबी की सूरत मुझमिर' रही आती है। यह भी सच है कि इन विश्वदृष्टियों का आपस में संवाद होता रहा है और उससे इनकी अपनी पहचान नष्ट नहीं होती रही हैं बल्कि इसके सहारे वे अपनी इयत्ता को अक्षुण्ण बनाये रख सकी हैं। आधुनिक यूरोप की विश्वविजय के बाद शायद पहली बार ऐसा हुआ कि यह संवाद लगभग विस्थापित हो गया और इसकी जगह यूरोपीय विश्वदृष्टि का हर जगह क्रूर आरोपण होने लगा। इससे कितने लोग खुद अपने समाजों की अन्तश्चेतना के लिए पराये होते चले गये, यह बेहद करुण गाथा है। हमारे देश में भी हम तथाकथित पढ़े-लिखे लोगों के लिए यूरोपीय मनीषा ही अधिक आत्मीय बनती गयी, वही हमारी सोच का मुहावरा बन गयी। जिन आस्थाओं, परिपाटियों और अन्तर्दृष्टियों के सहारे हमारा व्यापक समाज जीवन-यापन करता था और किसी हद तक करता है, उससे हमारी अनभिज्ञता मूढ़ता की सीमा तक हो गयी है। शायद हमने अपनी पारम्परिक विश्वदृष्टियों को बिना जाने ही व्याज्य मान रखा है। इसके पीछे मानो यह धारणा हो कि हर गैर-यूरोपीय सभ्यता की यह नियति है कि उसे आधुनिक यूरोपीय समाज की तरह बनना है और इसमें उसकी अपनी पारम्परिक विश्वदृष्टियाँ ऐसे अवरोध हैं जिन्हें छोड़कर ही हर सभ्यता अपनी यह विचित्र मन्जिल हासिल कर सकती है। इससे हममें अनेक बौद्धिक स्तर पर भले ही असहमत हों, हमारे व्यापक व्यवहार में यही धारणा काम किया करती है। धर्मपाल जी इस अन्धानुकरण की प्रवृत्ति को प्रश्नांकित करने का अनोखा उपाय सुझाते हैं। उनका प्रस्ताव था – और इसके लिए उन्होंने अपनी वृद्धावस्था तक में पर्याप्त उद्यम किया था – कि हमारे देश की सभी भाषाओं में किशोरों के लिए ऐसी पुस्तक लिखी जानी चाहिए जिसमें बेहद सरल भाषा में उन्हें तमाम महत्वपूर्ण सभ्यताओं की विश्वदृष्टियों की जानकारी दी जा सके। उन्हें यह बताया जा सके कि किस तरह अलग-अलग सभ्यताएँ अस्तित्व को अलग-अलग तरह से परिकल्पित करती हैं। इससे हमारे देश के युवक-युवतियाँ यह जान सकेंगे कि संसार और अस्तित्व को देखने की अनेक दृष्टियाँ न सिर्फ हमेशा से रही हैं बल्कि आज भी, आधुनिक यूरोपीय दृष्टि के लगभग सब जगह काबिज़ होने के बाद भी, विभिन्न शकलो-सूरत में जीवित हैं। यह जानना भर है, उसके बाद हमारे लोग अपनी विश्वदृष्टियों को स्वीकारें या अस्वीकारें, यह उनका अपना विवेक होगा पर तब वे कम-से-कम यह जान ज़रूर रहे होंगे कि वे किसे त्याग रहे हैं और किसे अंगीकार कर रहे हैं।

4.

सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में भारतीय व्यवस्था के कई सूत्रों का अध-ययन करने और उनके सहारे भारतीय समाज को बिल्कुल ही नयी तस्वीर प्रस्तुत करने के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह शिक्षितों और विचारवान लोगों की सभ्यता रही है। तब उनकी जिज्ञासा का विषय यह बना कि अंग्रेजों के यहाँ आने से पहले साधारण लोगों के बीच कौन-से ग्रन्थ लोकप्रिय थे और किन विषयों पर यहाँ बातचीत हुआ करती थी, वे कौन-से दार्शनिक प्रश्न थे जो उन्हें उद्वेलित किया करते थे। स्वतन्त्र भारत के बौद्धिकों और साधारण लोगों के बीच अंग्रेजी ढंग की शिक्षा और संस्कार के कारण आयी दूरी के कारण यह जानना कठिन था। इसलिए धर्मपाल जी महाभारत जैसे ग्रन्थों की ओर मुड़े। उन्होंने पाया कि वहाँ समाज-व्यवस्था, राजा के दायित्व, प्रकृति के स्वरूप आदि विविध विषयों पर विस्तृत संवाद हैं जो भारतीय समाज में चल रहे संवादों को किसी हद तक सूचित करते होंगे। मसलन स्त्रीपर्व का कृष्ण-गांधारी संवाद जहाँ गांधारी के इस प्रश्न के जवाब में कि अगर वे चाहते तो युद्ध को रोक सकते थे, कृष्ण कहते हैं कि क्षत्रिय स्त्रियाँ बच्चे पैदा करती ही इसलिए हैं कि वे युद्धक्षेत्र में अपनी जान दे सकें आदि। इस तरह के मार्मिक संवादों को एकत्र कर उनका अध्ययन कर भारतीय साम्यतिक मानस को किंचित अधिक गहरायी से जानने की चेष्टा करना वे चाहते थे। मुझे याद है कि एक बार सेवाग्राम में उन्होंने महाभारत के सभी खण्ड बुलवाये और वे चाहते थे कि उन्हें काट कर उनसे सभी संवादों को निकाल लिया जाये और उनको सम्पादित कर एक लम्बी भूमिका के साथ किताब प्रकाशित की जाये। इस पर भी उनका इसरार था कि सभी संस्कृत नाटकों को इकट्ठा पढ़ा जाये और उनसे निकलते प्रश्नों को दोबारा ध्यान से देखा जाये ताकि हमारे सामने किसी हद तक वे सवाल आ सकें जो हमारे लोगों को उद्वेलित करते रहे हैं। और जिसके सहारे उस मानस को कहीं बेहतर ढंग से समझने की स्थिति में आया जा सके जिसे हम मोटे रूप में भारतीय मानस कह सकते हैं। उनका प्रसिद्ध लेख, 'भारतीय चिन्त, मानस और काल' इसी दिशा में प्रयास रहा है।

5.

धर्मपाल जी का सारा लेखन भारत को उसकी अपनी दिशा में ले जाने की आकाँक्षा से लिखा गया था। वह विशुद्ध ज्ञानात्मक नहीं, कर्म को उत्प्रेरित करने वाला लेखन है। वह शास्त्र है उसी अर्थ में जैसे अर्थशास्त्र होता है या कामशास्त्र। उसी अर्थ में जैसे गाँधी जी का 'हिन्द स्वराज' है। अगर वे साल-दर-साल अंग्रेजों के भारत सम्बन्धी दस्तावेज़ खोजते रहे तो इसलिए

कि हम स्वतन्त्र भारत में उन अंग्रेजी मान्यताओं और संस्थाओं से निजात पा सकें जिन्होंने इस सभ्यता के जीवन्त स्रोतों को अवरुद्ध कर रखा है। ऐसा कुछ हो नहीं सका। उसकी उम्मीद भी कम ही दिखती है। इसलिए कई बार मुझे लगता है कि धर्मपाल जी का अधिकतर लेखन हमारी सभ्यता के सूत्रों का स्मरण भी है और उनके छूटते जाने का शोकगीत भी। वह शायद हमारा अपना जेजु संगीत है।

6.

संसार में यूरोपीय सभ्यता (जिसे गाँधीजी शैतानी और धर्मपाल हत्यारी मानते थे) की प्रभुता स्थायी होने से पहले क्या-कैसा विश्वव्यवस्थाएं रही हैं ? यह पता लगने पर सन् 1421 में किसी चीनी जहाजी बेड़े ने चीन से अमरीका तक की यात्रा की है और उसने ही पहली बार यूरोप से अमरीका के समुद्री मार्ग का नक्शा तैयार किया था, वे बेहद उत्साहित हुए थे। यह जहाजी बेड़ा चीन के मिंग घराने के तीसरे सम्राट जू डाई के नौसेना प्रमुख जियांग ही के नेतृत्व में चीन से भारत के कालिकट होता हुआ अमरीका गया था। उस दौरान चीनी जहाज दुनियाभर में घूमा करते थे। इन सारी यात्राओं पर हाल में गोविन मेन्जीज की किताब, '1421, द इयर चाईना डिस्कवर्ड अमेरिका' प्रकाशित हुई। इसी किताब से यह उद्घाटित हुआ है कि जब कोलम्बस अमरीका गये, उनके पास वहाँ तक जाने के मार्ग का वही नक्शा था जो जियांग ही के नेतृत्व में चीनियों ने तैयार किया था। धर्मपाल जी की इन सब में दिलचस्पी का कारण यह था कि वे यूरो-केन्द्रित विश्वव्यवस्था से पहले की विश्वव्यवस्थाओं और उनमें निहित मूल्य-व्यवस्थाओं और मूल्य-सम्पदाओं को समझना और रेखांकित करना चाहते थे। उनकी आकाँक्षा उन तमाम विश्वव्यवस्थाओं को सामने लाने और उनका विशद शोध करने की थी जो हमारे संसार को यूरोप की विश्व विजय के पहले बाँधे रही थी। वे बार-बार दोहराते रहे कि हम भारतीयों के चीन या कम्बोडिया या वियतनाम या कोरिया आदि से बहुत पहले के ताल्लुकात हैं, हमें उन्हें गहरायी से जानकर उन्हें फिर से जीवन्त करने का प्रयास करना चाहिए। इसके लिए, वे चाहते थे कि पन्द्रहवीं शती के पहले के तमाम दस्तावेजों को सीधे-सीधे वियतनामी, कोरियायी, कम्बोडियायी, चीनी आदि भाषाओं में खोजा जाये, इसके लिए किसी भी यूरोपीय भाषा की मध्यस्थता को स्वीकारा न जाये। तब जाकर हमें यह किसी हद तक पता लग सकेगा कि इन तमाम देशों के लोग उन दिनों एक-दूसरे के विषय में क्या सोचते थे और उनके सम्बन्धों के क्या आधार थे। इसी समझ के सहारे हम इस बीच में टूटे हुए सम्बन्ध-सूत्रों को दोबारा जोड़ने की ओर बढ़ सकते हैं।

7.

लगभग सभी पारम्परिक समाजों का प्रकृति से निकट का सम्बन्ध रहा है, एक तरह से पारम्परिक मनुष्य के संस्कार प्राकृतिक प्रक्रियाओं को देखने, सुनने और समझने के आधार पर ही बने होंगे। इसीलिए पारम्परिक समाज इस विश्वास पर गुज़र-बसर करते रहते हैं कि प्राकृतिक प्रक्रियाएँ ही मनुष्य के अपने कर्म का आईना भी हैं और उसकी सीमा भी। भारतीय सभ्यता के विषय में इस तथ्य को गाँधीजी समेत अनेक चिन्तकों ने रेखांकित किया है इसीलिए वे स्थानीय साधनों की पर्याप्तता पर इतना भरोसा कर सके थे। धर्मपाल जी भी स्थानीयता के महत्व को स्वीकारते थे। वे मानते थे कि जैसे प्रकृति के दूसरे जीव-जन्तु स्थानीय होते हैं वैसे ही मनुष्य भी कमोबेश स्थानीय जीव है। वैश्विक मनुष्य की कल्पना खोखली है और अगर ऐसा है तो फिर वैश्विक टेक्नोलॉजी आदि किस आधार पर उचित ठहरायी जा सकेंगी क्योंकि आधुनिक टेक्नोलॉजी के अन्तस में मनुष्य की वैश्विक छवि ही विद्यमान है। वे आधुनिक जैव-वैज्ञानिक शोधों में गहरी दिलचस्पी लेने लगे थे। वे निरन्तर जैविक प्रक्रियाओं को सूक्ष्मता से समझकर उनका विभिन्न मानवीय कार्यकलापों में प्रकटन देखने की चेष्टा करते थे। इसी का परिणाम था कि वे समाजों के चलने में अहिंसा और हिंसा दोनों की उपयोगिता को स्वीकार करने की ओर बढ़ रहे थे। जैसे प्रकृति में आमतौर पर अहिंसा ही व्याप्त है पर समय-समय पर हिंसा का हस्तक्षेप भी होता ही है वैसे ही मानव समाज को भी समझना चाहिए। इस अर्थ में न तो हिंसा को विचारधारा की हद तक स्वीकारा जा सकता है, न अहिंसा को। यहाँ इस तथ्य को याद करना शायद अर्थपूर्ण हो कि गाँधी जी ने कई बार अहिंसा के अपने विचार को खासी हिंसक शब्दावली में व्यक्त किया है। उन्होंने सेवाग्राम जैसे अपने आश्रमों को मिलिटरी अकादमी कहा है, सत्याग्रहियों को उनमें तैयार हो रहे सैनिक और स्वयं को उनका मिलिटरी कमाण्डर। धर्मपाल जी के लिए भारतीय व अन्य सभ्यताओं को समझने के सूत्र सिर्फ सामाजिक, दार्शनिक, नृत्तत्वशास्त्रीय, ऐतिहासिक अध्ययन में ही नहीं प्रकृति की सूक्ष्म प्रक्रियाओं में भी बिखरे पड़े हैं जिन्हें भारत जैसे पारम्परिक समाज अपनी तरह से अन्तस्थ किया करते हैं। शायद इसीलिए वह अपने विन्यास में सदियों तक थोड़ा-बहुत बदलाव कर उसे चलाता रहा क्योंकि प्राकृतिक प्रक्रियाओं का स्वरूप भी ऐसा ही कुछ है। वे यह चाहते रहे कि कुछ अध्येता जीव-वैज्ञानिक तथ्यों के आलोक में भारत जैसी सभ्यताओं को समझने का प्रयत्न करें।

8.

अपनी मृत्यु के कुछ दिनों पहले वे सेवाग्राम से दिल्ली जा रहे थे। मैं उनसे भोपाल स्टेशन पर मिला। पता नहीं किस तुफ़ैल में, मैं उनसे पूछ बैठा कि क्या वे पुनर्जन्म में विश्वास रखते हैं ? वे बोले, 'इससे फ़र्क नहीं पड़ता क्योंकि सृष्टि की अपनी सम्पूर्णता में किसी एक के होने या दोबारा होने से कोई अन्तर नहीं आता। वह अपने अन्तर्सम्बन्धों के सहारे चला करती है।'

सच भी है जो व्यक्ति अपने भीतर सृष्टि की सम्पूर्णता को अनुभव करने की ओर बढ़ चला हो, उसे दोबारा या तिबारा होने से क्या हासिल ? लेकिन क्या यही कुछ हमारी सभ्यता का हरेक मनुष्य के लिये लक्ष्य नहीं रहा ? क्या इसे ही 'तत्त्वमसि' (तुम वह हो) जैसे महावाक्य से नहीं कहा जाता रहा ? क्या इसे ही मोक्ष नाम से नहीं पुकारा जाता ?